Bodhi International Journal of
Research in Humanities, Arts and Science

Vol. 10 Special Issue 1 October 2025
E-ISSN: 2456-5571

समकालीन हिंदी उपन्यास में उपनिवेशीकृत भारतीय संस्कृति

श्यामलाल एम एस
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, सेक्रेट हार्ट कॉलेज, तेवरा

Crossref doi
Open Access

Manuscript ID:
BIJ-SPL1-OCT25-ML-036

Subject: Hindi

Received : 27.07.2025
Accepted : 02.08.2025
Published : 31.10.2025

DOI: 10.64938/bijsi.v10si1.25.Oct036

Copy Right:

This work is licensed under
a Creative Commons Attribution-
ShareAlike 4.0 International License.

सार संक्षेपण

उपनिवेशीकृत भारत का इतिहास केवल राजनीतिक या आर्थिक गुलामी की ही कहानी नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक दमन, भाषिक संक्रमण और मानसिक गुलामी की भी दास्तान है। उपनिवेशवाद ने हमारी सांस्कृतिक परंपराओं में विकृतियाँ पैदा करने के साथ ही भारतीयों की आत्मचेतना, सोच और जीवन-दृष्टि को भी गहराई से प्रभावित किया। समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने इस सांस्कृतिक संकट को गहराई से अनुभव किया और अपने साहित्य के माध्यम से इन प्रभावों की पड़ताल की। समकालीन हिंदी उपन्यासों में उपनिवेशवाद के प्रभावों तथा भारतीय संस्कृति के उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करना इस आलेख का लक्ष्य है। औपनिवेशिक सत्ता ने भारत की सांस्कृतिक, सामाजिक और मानसिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया है। समकालीन हिंदी उपन्यासकारों ने अपने लेखन में इन प्रभावों को उजागर किया है और भारतीय अस्मिता, परंपरा, तथा भाषिक चेतना की पुनर्परिभाषा करते हुए प्रतिरोध का स्वर दर्ज किया है।उपनिवेश के विरुद्ध भारतीय जनमानस की प्रतिक्रिया, प्रतिरोध और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण को भी उपन्यासकारों ने दर्शाया गया है।यह आलेख यह स्थापित करता है कि समकालीन हिंदी उपन्यास केवल साहित्यिक रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण के माध्यम भी हैं, जो भारत की उपनिवेशीय स्मृतियों और आत्मचेतना के बीच संवाद स्थापित करते हैं।

मूल शब्द: भूमंडलीकरण, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, संस्कृति, अपसंस्कृति, विस्थापन, शहरीकरण, उदारीकरण, संघर्ष, प्रतिरोध

'संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने आप को परिचित कराना संस्कृति है'। यह परिभाषा सुनने पर प्रायः एक शंका पैदा हो जाती है कि क्या सिर्फ यही संस्कृति है? 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग बहुत ही विस्तृत एवं व्यापक परिप्रेक्ष्य में होता है जो मनुष्य की विचारधारा एवं भाव धारा के साथ उसकी संवेदनाओं को भी मिलाकर विकास के पथ पर उसे अग्रसर कराता है। भारत की उत्कृष्ट एवं प्राचीनतम संस्कृति को बहुत कुछ अपने में समेटने की क्षमता है। संस्कृति की बुनियादी तत्व जिसे हम मूल्य कहते हैं उसमें जब बिखराव आ जाते हैं तब वहाँ विकृति पैदा हो जाती है जिसे अपसंस्कृति कह सकते हैं। भारतीय संस्कृति एवं उसके इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि हमारी संस्कृति में उपनिवेशन बहुत पहले ही विकृतियाँ पैदा कर चुकी है । परंतु उपनिवेशन तथा वैश्वीकरण के पश्चात इसका चेहरा इतना खौफनाक बन गया है कि वह आज हमारे सामने एक प्रश्न चिन्ह बनकर खड़ा है।

वैश्वीकरण का संस्कृति के साथ एक बेजोड़ रिश्ता कायम हो चुका है जो केवल सांस्कृतिक शोषण ही नहीं बल्कि सामाजिक,आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक, भाषिक और न जाने किन-किन रूपों में अपनी विस्तृत भुजाएँ फैलाकर हमें निगलने के लिए खड़ी है। श्याम चरण दुबे के अनुसार "भूमंडलीकरण उस सफर का नाम है जो उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में आधुनिकता ने शुरू किया।"[1]आधुनिकीकरण के पश्चात भूमंडलीकरण का नया मुखौटा पहनकर वही पुरानी पूंजीवादी संस्कृति पूरी दुनिया में मंडरा रही है। भूमंडलीकरण में नव- साम्राज्यवाद की महान पदचाप सुनने वाले एक बड़े वर्ग की यह मान्यता है

कि भूमंडलीकरण दरअसल पूंजीवाद की तात्कालिक एकछत्रता का उद्घोष है। उनका यह मानना है कि भूमंडलीकरण कुछ नहीं पूंजीवादी सर्वव्यापीकरण के रूप में नव- साम्राज्यवाद का नया रूप है । ए.अरविंदाक्षन लिखते हैं "आज की भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था ने विभिन्न देशों के व्यापार-क्रम पर ही हस्तक्षेप नहीं किया है बल्कि देशों की संस्कृतियों पर भी दखल देना शुरू किया है। उसका दावा यह है कि उसने पूंजी के प्रवाह को उन्मुक्त किया है। इस बहाने वस्तुतः उसने सांस्कृतिक स्वत्त्व को भी लूट लिया है।"[2]

साम्राज्यवादी, उपनिवेशी शक्तियों की घुसपैठ के कारण औद्योगिक उत्पादों के लिए बाज़ार की आवश्यकता थी। तदोपरांत एक ऐसे संवेदनहीन समाज का निर्माण हुआ जो उपभोक्ता संस्कृति के बहाव में बहता गया और अपने ऊपर होने वाले ज्यादतियों को पहचान कर भी अनदेखा करने लगा था। परंतु समकालीन हिंदी उपन्यास इन विद्रूपताओं को पहचान कर उसके वर्तमान स्वरूप के साथ संघर्ष कर रहा है। साम्राज्यवाद के बनने,विकसित होने और फैलने के परिणाम स्वरुप उपन्यास का जन्म हुआ था,जो उपनिवेशन का ही जीता जागता सबूत है। यह एक प्रकार से उन सारी स्थितियों की खोज का एक सिंहावलोकन है, जो इस देश के समय पर कभी भारी रहा था। "उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज़ी राज,अंग्रेज़ी शिक्षा,अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी साहित्य के साथ ब्रिटिश उपनिवेश(कॉलोनी) बने भारत में नॉवेल आया। देखते-देखते देश की समस्त भाषाओं में नवोदित वाचक- वर्ग और लेखक- वर्ग पर वह छा गया।"[3] सामंतवादी मानसिकता एवं पूंजीवादी व्यवस्था विरोधों के कारण शुरुआती दौर के उपन्यासों में प्रतिरोध का सशक्त चित्रण नहीं देखा जा सकता। परंतु समय के चलते-चलते तिलिस्मी,अय्यारी एवं जासूसी की काल्पनिक दुनिया से उपन्यासकार मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदी एवं यथार्थ से वाकिफ होने लगे और उपन्यास वास्तविक जीवन का दस्तावेज़ बनता गया।

1991 में प्रकाशित वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'डूब' बुंदेलखंड की सीमा पर स्थित बेतवा नदी पर बनने वाले बांध की योजना तथा उसके दुष्परिणामों को दर्शाने के साथ व्यक्ति एवं समाज को नींव से उखाड़ फेंकने की मशीनी सभ्यता का भी खौफनाक चेहरा दर्शाता है । 'डूब' एक ऐसी रूपक कथा है जिसमें हज़ारों-लाखों लोगों की चिल्लाहट हम सुन सकते हैं,जो विकास के नाम पर होने होनेवाली सरकारी, गैर सरकारी एजेंसियों के वाकयुद्ध तथा व्यवस्था के दमन चक्र का शिकार बनकर अपनी नियति को कोसते हुए विस्थापन की त्रासद स्थिति को भोगने के लिए विवश हो जाते हैं। ज्योतिष जोशी कहते हैं "डूब उस भारतीय जन की नियति का एक ऐसा चित्रपट है, जिसमें विकास,शिक्षा, जागरूकता की हवा तक नहीं गई है और वह परंपरागत सामंती व्यवस्था का शिकार होकर दम तोड़ रहा है।...इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी आंदोलन धर्मिता भी है जो कर्म में मेधा पटकर और सुंदरलाल बहुगुणा में है, कहना चाहिए कि शब्द के स्तर पर वह लड़ाई वीरेंद्र लड़ रहे हैं"।[4] पूंजीवादी सभ्यता के शिकंजे में पड़कर राजनीति,सत्ता,शासन-व्यवस्था, धर्म एवं संस्कृति भी भ्रष्ट होती जा रही है। शहरों का उदय, विकास और शहरीकरण की मोह-माया एवं चकाचौंध में पड़कर भोले-भाले ग्रामीण, साम्राज्यवादी कॉर्पोरेट के हाथों की कठपुतली बन जाते हैं। ठाकुर देवी सिंह,मोती साव, बामन महाराज, कैलाश सरीखे जैसे उपन्यास के चालाक पात्रों द्वारा आम जनता के शोषण का अंतहीन सिलसिला जारी रहता है।

1998 में अलका सरावगी द्वारा लिखित 'कली- कथा: वाया बाइपास' भारत में व्याप्त हो रही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को दर्ज करते हुए प्रतिरोध खडा करती है। यह किशोर बाबू की कहानी है जिन्होंने असल में अपनी एक जिंदगी में एक नहीं वरन तीन-तीन जिंदगियाँ जी है। पहले सुभाष चंद्र बोस के भक्त शांतनु और गांधीवादी अमोलक़ जैसे अपने स्कूल के मित्रों के साथ मिलकर स्वाधीनता एवं राष्ट्रीयता से प्रेरित होता है जो उसे नायकत्व न देते हुए भी तुच्छता से ऊपर का दर्जा देता है। दूसरी जिंदगी उन पचास सालों की है जहाँ किशोर बाबू विजयोल्लास से उपजे उन्माद, सत्ता एवं समृद्धि के स्वार्थ मोह में सुभाष एवं गांधी को बेहिचक छोड़ देते हैं और नेहरू को अपना हीरो मानते हैं। लोकतंत्र के पचास सालों के साथ लेखिका किशोर बाबू के ज़िंदगी के दूसरे चरण की तुलना करती हैं,जो केवल उदासी ही देती है। तीसरे चरण में बाइपास ऑपरेशन के बाद के वर्तमान से शुरू होती है जो हमारे आसपास उपस्थित है। उपभोक्तावादी एवं नव उपनिवेशी दौर में पहुंचकर मुड़कर देखने पर किशोर बाबू महसूस

करते हैं कि "यहाँ सब के अपने-अपने सपने हैं,किशोर देखता है पर कहीं सारे सपने एक जगह जुड़ जाते हैं । कारण यह है कि शत्रु का चेहरा साफ है-उसके चले जाने से ही एक नया सोने का सूरज उगेगा। यह तो किशोर को बाद में जाकर कई दशकों के बाद एहसास होता है जब शत्रु का चेहरा खोजने पर अपना ही चेहरा शीशे में नज़र आने लगता है,सारे सपने धुंधला हो जाते हैं ।"[5] रोहिणी अग्रवाल का कहना है "ज़ाहिर है उपन्यास किशोर बाबू की व्यक्ति कथा न रहकर मारवाड़ी समाज की जातीय कथा और भारतीय समाज की काल-कथा बन जाता है। किशोर बाबू व्यक्ति न रहकर किशोर उत्सुकता,जिज्ञासा, आदर्श और स्वप्नशीलता के प्रतीक बन जाते हैं जो जिंदगी की देखी-सुनी भयावहता से भयभीत नहीं होता बल्कि जिंदगी को अपने सपनों और इरादों के चाक पर चढाकर नई गढ़त देने को लालायित रहता है। ज़िंदगी उसके लिए चुनौती भी है और संगीत भी।"[6] पीढ़ियों का अंतर जिसे युवा पीढ़ी जेनरेशन गैप कहकर धुधकारते हैं उसका सशक्त चित्रण उपन्यास में दर्शनीय है। आज की युवा पीढ़ी जिस नव-उपनिवेशवादी ब्रांड संस्कृति के पीछे भागते हैं उसका प्रतीक है किशोर का बेटा, जो अपने कपड़े से लेकर कार तक सब कुछ ब्रांडड चाहता है और देश की पचासवीं सालगिरह पर फोर्ड कार खरीदता है। पश्चिमी आधुनिक सभ्यता के अंधानुकरण से हमारा जीवन मूल्य भी खटता जा रहा है और सुखान्वेषण के दर्शन पर आधारित आडंबर हमारे जीवन का हिस्सा बन रहा है। जीवन को सुंदर,स्वस्थ और गतिशील बनाने वाले मूल तत्वों का उल्लंघन होने पर एक नई संस्कृति यानी अपसंस्कृति पैदा हो जाती है। इसको रोकने का एकमात्र रास्ता मनुष्य का जगतीकरण है, जिससे हमारे सांस्कृतिक लक्ष्य भी बने रहेंगे और जीवन में प्रगति भी हासिल होगी। गांधीवाद की प्रासंगिकता को दर्शाते हुए लेखिका व्यक्त करती हैं कि जब व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए गांधी को छोड़कर नेहरू या उनके जैसे लोगों को अपनाते हैं तब हमारा सांस्कृतिक परिवेश नष्ट भ्रष्ट हो जाता है और हिंसा तथा आक्रामकता के कारण गांधी वहाँ फ़िर से मारे जाते हैं।

"भूमंडलीकरण दरअसल पूंजीवाद की तात्कालिक एकछत्रता का उद्घोष है। लेकिन भूमंडलीकरण शब्द से जैसी एकता का भ्रम होता है हकीकत वैसा है नहीं।"[7] सच्चिदानंद सिन्हा के इस कथन को उजागर करने वाला रणेन्द्र का उपन्यास है 'ग्लोबल गाँव के देवता' जिसमें विकास का मुखौटा पहने हुए शोषण की प्रक्रिया,जो असल में एक नए उपनिवेशन को दर्ज कराता है। उपन्यास की पृष्ठभूमि झारखंड का एक खास क्षेत्र 'कोयलबीघा' है जो अपनी प्राकृतिक संपदा के लिए मशहूर है। वहाँ की खनिज संपदा यानी कि बॉक्साइट का दोहन कर पूंजीपति एवं नेता लोग लाखों-करोड़ों रुपया कमाते हैं। परंतु इसके वास्तविक हकदार जो कि वहाँ की आम जनता है, वे कंगाल ही रहते हैं। आर्थिक उदारीकरण के नाम पर देशी-विदेशी कंपनियों के साथ हाथ मिलाकर लूट का हिस्सा बांटने के लिए सत्ताधारी एवं नौकरशाही हिचकते नहीं। यहाँ मार्क्सवाद की प्रासंगिकता हम देख सकते हैं। अमीर हमेशा अमीर बनते रहते हैं और साधारण जनता की स्थिति बद से बत्तर हो जाती है। वैश्वीकृत भारत में बहु राष्ट्रीय कंपनियाँ जल,जंगल,जमीन को बेचकर मुनाफा कमाते हैं जिसका प्रतीक है 'शिंडाल्को कंपनी'। उपन्यास का एक प्रसंग है "पाट के वैध-अवैध खनन से जुड़ा मसला तो सबसे ज़रूरी। खनन कंपनियों से जो लीज़ की शर्तें थी और पिछले पच्चीस-तीस सालों से जिनकी अनदेखी हो रही थी उनकी जाँच। पहले ही शर्त को दरकिनार करते हुए खुले खदानों से बॉक्साइट की निकासी के बाद गड्ढे भरने के बजाय यों ही छोड़े जा रहे थे। लाभ का कुछ भी हिस्सा पाट के लोगों के विकास पर कंपनियाँ खर्च नहीं करती थी।"[8] प्रकृति से संबंधित विकास की सभी योजनाएं आदिवासी को बेदखल करने और विस्थापन की विभीषिका का शिकार बनने के लिए ही मजबूर करते हैं। उपन्यास में असुर जाति के चित्रण के साथ रणेन्द्र देवराज इंद्र से लेकर ग्लोबल गाँव की कंपनियों तक फैली शोषण और दोहन की प्रक्रिया को ही दर्शाते हैं। इसके विरुद्ध जनता को जागृत करना ही लेखक का मुख्य उद्देश्य है। यहाँ 'कोयलबीघा' सिर्फ एक गाँव का नाम है लेकिन हमारे भारत में ऐसे कई कोयलबीघे हैं। चाहे प्लचिमाड़ा हो या कांजीकोड या फ़िर केरल के एंडोसल्फान पीड़ित प्रदेश फ़र्क सिर्फ़ उसके नाम पर है।

'बेदखल' उपन्यास में कमलाकांत त्रिपाठी ने उत्तर प्रदेश के गाँव के लोगों के संघर्ष को दिखाया है। ग्रामीणों के बीच एकता स्थापित कर अंग्रेज़ी कानून के खिलाफ एवं ज़मींदारी प्रथा के विरोध में आंदोलन चलाने के लिए बाबा रामचंद्र किसान सभाओं का आयोजन अलग-अलग गाँव में

करते हैं । संघर्ष करते कई किसानों की जान भी जाती है।रायबरेली की घटना के बारे में जब बाबा पूछते हैं तब उन्हें बताया जाता है "क्या नहीं हुआ बाबा?... आंदोलन का सारा नक्शा ही बदल गया । हमने क्या सोचा था और क्या हो गया? कितने किसान मारे गए। रातों-रात कितनी लाशें गंगा में बहा दी गई।... जो वहाँ हुआ वही अब फैजाबाद में होने वाला है। आपका नाम लेकर लोग लूटपाट कर रहे हैं। कितने ही नकली बाबा रामचंद्र निकल आए हैं। ...और हम भकुआ बने देख रहे हैं।"[9] इस तरह उत्तर प्रदेश के गाँव में किसान अपने अधिकारों की मांग हेतु काफी एकता के साथ अपनी जान पर खेलकर एकत्रित होकर अपने अधिकारों की माँग करते हुए सशक्त प्रतिरोध दर्ज करते हैं लेकिन सत्ताधारी वर्ग के सामने घुटने टेकने के लिए लाचार हो जाते हैं।

संक्षेप में कहें तो समकालीन उपन्यासकारों ने अर्थात वीरेंद्र जैन हो या अलका सरावगी या फ़िर रणेन्द्र सभी उपन्यासकारों ने उपनिवेशन के नए चेहरे का पर्दाफाश करना चाहा है। स्वतंत्रता के पश्चात प्रत्यक्ष उपनिवेशन तो खत्म हो गया है लेकिन परोक्ष रूप में हमारे हाथ आज भी बंदे हुए हैं, पैरों में अब भी दासता की वही बेड़ियाँ कायम है। लेकिन अंतर केवल यह है कि उन बेड़ियों को आज सोने से ढक कर चकाचौंध रोशनी में मनमोहक अंदाज़ में पेश किया जा रहा है। भूमंडलीकरण,उदारीकरण, निजीकरण,बाजारीकरण सज्ञाएँ जो भी हो उसकी मूलभूत भावना सिर्फ दासता ही है।इसका प्रतिरोध न करने पर पैरों की बेड़ियाँ कब गले का फंदा बन जाएँ पता भी नहीं चलेगा।धर्मवीर भारती की कविता ' गुलाम बनाने वाले' पर हमें गौर फरमाना होगा-

"और भी पहले वे कई बार आए हैं
एक बार जब उनके हाथों में भाले थे
..... घोड़े पर रखकर, या थैली में भरकर,
या रोटी से ढंककर, या फिल्मों में रंगकर,
वे ज़ंजीरें, केवल जंजीरें ही लाए हैं
और भी पहले वे कई बार आए हैं ।"

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्यामचरण दुबे, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, पृ.सं. 7
2. ए.अरविंदाक्षन, वैश्वीकृत परिदृश्य में साहित्य, जन विकल्प, मई 2011, पृ.सं.19
3. भोलाभाई पटेल, भारतीय उपन्यास परंपरा और ग्रामकेन्द्री उपन्यास, पृ.सं. 17
4. ज्योतिष जोशी, उपन्यास की समकालीनता, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.सं.55
5. अलका सरावगी, कलि-कथा:वाया बाइपास, आधार प्रकाशन, पृ.सं.19
6. रोहिणी अग्रवाल, इतिवृत्त की संचेतना और संरूप, आधार प्रकाशन, पृ.सं.205
7. सच्चिदानंद सिंहा, भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, पृ.सं.10
8. रणेंद्र, ग्लोबल गाँव के देवता, पृ.सं.51
9. कमला कांत त्रिपाठी, बेदखल, वाणी प्रकाशन, पृ.सं.180